Krishna teaches Arjuna

भाग्यचक्र और कर्मबंध

लेखक

संजय जैन (गुरूजी)

स्पंदन पारमार्थिक शिक्षा एवं सामाजिक उन्नयन समिति (रजि.)

उज्जैन (म.प्र.)

जय जिनेन्द्र,

आध्यात्मिकता का अर्थ मात्र पूजा या पाठ गृहशांति से नहीं है ना ही इसका तात्पर्य यंत्र या तंत्र से है और ना ही शक्ति को ताबीज, अंगूठी, मंत्र या किसी साधन, माला इत्यादि से परिमापित किया जा सकता है। इसका वास्तविक अर्थ है देवाधिदेव की परम शक्ति एवं उनकी असीम कृपा एवं परम पिता परमेश्वर द्वारा प्रदत्त अलौकिक दिव्य रश्मियों के अनुभव से उसकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभूति कराना है।

मेरी सदैव यही भावना रही कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को परम पिता परमेश्वर का आशीर्वाद प्राप्त हो। उनकी शक्ति का व्यापक प्रयोग हो जिससे सर्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो। ईश्वर के प्रति ईमानदार समर्पण एवं संपूर्ण निष्ठा ही समस्त प्रकार की आधि, व्याधि, संकट बाधा या परेशानियों से मुक्त होने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

स्पंदन पारमार्थिक एवं सामाजिक उन्नयन समिति का मूल उद्देश्य समाज सेवा ही है। इसके अन्तर्गत संपूर्ण समाज के लोगों में व्याप्त अंधकार को दूर करके उनमें ईश्वरीय भक्ति की लौ जागृत करना जो कि भारतीय धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं परिवेश के अनुरूप होकर सामाजिक, राष्ट्रहित एवं उसकी एकता और अखण्डता को बनाये रखना है। स्पंदन पारमार्थिक एवं सामाजिक उन्नयन समिति के अन्य कार्यक्षेत्रों के विभिन्न धार्मिक स्थलों के व्यापक विकास हेतु उनके वास्तु धर्माचार्य, धर्मगुरु, साधु–संतों या अन्य विद्वानों की विभिन्न शारीरिक व भौगोलिक बाधाओं का निवारण कर बहु उपयोगी आध्यात्मिक साहित्य उपलब्ध कराना व समाज के जरूरतमंदों को हर संभव सहायता उपलब्ध कराना जिसकी उन्हें आवश्यकता है।

इस महा अभियान में हमारे साथ स्वयं को जोड़कर अन्य लोगों को सन्मार्ग पर चलने हेतु अनुप्रेरित करें।

संजय जैन
लेखक

भाग्यचक्र और कर्मबंध

सदियाँ बीत चुकी हैं इस गुथ्थी को सुलझाने ओर समझने हेतु कि आखिर भाग्य और कर्म का परस्पर सम्बन्ध क्या है ?

क्या इस सृष्टि के रचियता ने इस गुथ्थी के ताले की चाबी स्वयं के पास ही रखी है ?

हाँ, क्योंकि वजह बिल्कुल स्पष्ट है अनादिकाल से परम शून्य के अस्तित्व के आहट से जो सृष्टिचक्र आज तक निरंतर गतिमान है उसकी निरंतरता में कोई अवरोध ना आ सके, जो कि इस युगान्तरकालीन प्रक्रिया के संचालन को बाधित कर दे।

सृष्टि के शैशवकाल से आज तक मानव सभ्यता का सफर एक तयशुदा पथ पर परिसंचालित हो रहा है जिसका की उद्‌गम और विसर्जन नियत हैं। बस कुछ किंचित मात्र भी स्पंदन अगर घटित हो पाता है तो उसका परिप्रेक्ष्य भी कुछ सुदूर उद्देश्यों में निहितार्थ रहता है। परन्तु अंतिम परिणीति में आकर सारे परिवर्तित स्पंदन, सागर की सतह पर उदयीमान क्षण भंगुर बबुले के समान विलोपित होकर अनादिअनंत सागर के अंदर अंतर्निष्ट होकर उसका ही एक अंश मात्र बनकर रह जाते हैं। बस ये ही उस आत्मा के परम आत्मा में अंतर्निष्ट होने के सफर की बानगी है। इसको कर्मबंधों की लड़ियों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में भाग्यमणि के रत्नों द्वारा सुशोभित और अलंकृत किया गया है। ये आयाम भिन्न - भिन्न अवसर रूपों एवं आकृतियों में एक बहुत ही कुशल चित्रकारी द्वारा उकेर दिये गये हैं। जिसका की एक-एक अंश, रंग जीवन की केनवास पर कभी खुशियाँ बिखेरता है तो कभी गम, कभी प्रसन्नता देता है तो कभी उदासी, कभी हर्ष देता है तो कभी विलाप, कभी रागस्वरूप उभरता है तो कभी द्वेषता उसमें अपना ताना-बाना बिखेरती नजर आती है।

2

वास्तव में ये उस चित्रकार याने की सृष्टि के रचियता का ही खेल है जिसकी शुरूआत की कलम उसके हाथों में अगर होती है तो अंतिम टच फिनिश भी वो ही करता है।

मानव जीवन क्या है मात्र उस परमशक्ति के द्वारा इस विशाल सृष्टिरूपी केववास पर प्रतिबिंबित एक रचना। जिसमें वो अपने मनोकुल आयामों का प्रस्तुतिकरण जीवन की विभिन्न विधाओं के माध्यम स्वरूप में प्रगट करता रहता है। नियमित-निरंतर-अचिंतनीय-अकिंचनीय स्वरूप में।

वस्तुतः मानव जीन क्या है ? गौर किया जाये तो ये खूँटे से बंधी हुई उस गाय के समान है जो अपने गले में पड़ी हुई रस्सी के बंधन की शिथिलता के दायरे में ही विचरण कर सकती है भले ही वो उस दायरे में कितनी भी चौकड़ी भरले या उछलकूद कर ले, एक प्रतिबंधित दायरे से बाहर नहीं जा पाती है उसकी परिक्रमा निधारित रहती है।

इसी तरह हमारी आत्मा रूपी गाय भी एक तयशुदा गठबंधन जो कि जीवन के उद्‌भव से लेकर मृत्यु की परिणीति के मध्य होता है, उसी में विचरण की अधिकारी होती है। अपने बंधन से परे उसको अतिक्रमण की अनुमति नहीं होती। उसको अपने सारे कर्म इसी बंधन के दायरे में ही फलीभूत करना होते हैं। इन कर्मबंधन का स्वरूप पूर्वजन्मों के लेखा-जोखा के अनुसार भाँति-भाँति प्रतिक्रियाएँ लेकर प्रतिलिंबीत होता रहता है। जिनको इस मानव जीवन स्वरूप में सुख और दुख के नाम का आवरण प्रदान किया गया है और मनुष्य अपनी साधारण बुद्धि से इन दो आवरणों के मध्य ही डुबता-उतरता रहता है। कभी हिचकोले खाते तो कभी गोता लगाते हुये तो कभी उल्लास के आवेग में जम्प लगाते हुये। परंतु फिर भी इन क्षणित आवेगों को ही मनुष्य अपनी मंजिल समझकर वो अपने जीवन के मूल उद्‌गम और विसर्जन पाईंट को भूलाने की असफल चेष्टा करते हुये प्रतीत होता है। जबकि उसके जीवन-पथ की मंजिल के रास्ते के मुख्य पड़ाव, पहले से तयशुदा मापदंड के अनुसार अवस्थित रहते हैं इनकी स्थिति समयानुसार, कर्मानुसार और भाग्यनुसार परिवर्तित हो सकती है। परन्तु फिर भी जो चीज अटल सत्य है वो है मृत्यु, जिसने यहाँ जन्म लिया है उसका अंत सुनिश्चित है परन्तु इस ध्रुव सत्य को अच्छी तरह जानने के बाद भी मनुष्य अपनी फितरतों को विराम नहीं देना चाहता है और नित नये तरीकों की खोज में लगा रहता है ताकि जीवन रूपी यात्रा के इ स अंतिम पड़ाव की अंतिम परिणीति को कैसे गच्चा दे, जबकि इसी अंतिम परिणीति का सच इतना अधिक सुस्पष्ट और सुनिश्चित होने के बाद भी, मानव उस सच का

3

सामना आँख मूँद कर ही करना चाहता है, वो अज्ञानतावश ये मानने की भूल कर बैठता है कि उसके आँख मूँद लेने से ही सारे जग में अंधियारा छा जायेगा। जबकि हकीकत रूपी सच्चाई जो कि कड़वा स्वरूप लिये होती है, उसका वो सामना नहीं करना चाहता है जीवन की माहमाया के वशीभूत होकर वो अपनी अल्पबुद्धि को ही सम्पूर्ण मानकर इस सांसारिक जीवन में भिन्न भिन्न अभिनय करता है और जीवनरूपी रंगमंच के विभिन्न पात्रों के साथ क्रिया प्रतिक्रियाँ में संलग्न होकर एक तयशुदा नाटक के अंत की भाँति, इस जीवनलीला की रामलीला में खो जाता है बगैर ये जाने और बगैर ये समझे कि इस नाटक की मुख्य डोर तो किसी अन्य के हाथों में हैं याने की उस परम् शक्ति के हाथों में, और वो तो उस डोर में बंधी एक कठपुतली मात्र है।

सही मायनों में जीवनचक्र एक फसल चक्र के समान होता है। जिसमें मानव अपने कर्मरूपी बीज का बीजारोपण (बौवनी) स्वयं करता हैं, फिर अपने धर्म, कर्म, पाप-पुण्य, आचरण, कदाचरण, छल-कपट, उल्लास, परोपकार, स्वउपकार, नीति-अनीति, राग-द्वेष इत्यादि रूपी खाद उसमें डालता हैं और अपने जीवन की भविष्य रूपी फसल की बुनियाद वो स्वयं तैयार करता है। फिर स्वयं के बोये गये बीज और साज-सम्भाल रूपी आचरण से तैयार फसल ही, उसको परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है। इसमें उस परमशक्ति द्वारा समय-समय पर धूँप-छाँव, बरसात, नमी इत्यादि नेमतस्वरूप प्रदान की जाती है। इसी नेमत याने प्रभुकृपा, ईशकृपा के आधार पर ही मानवजीवन रूपी फसल की गुणवत्ता की क्वालिटी एक निश्चित परिमाण ग्रहण करती है।

फिर प्रश्न ये उठना स्वाभाविक है कि जब मानव द्वारा किये गये श्रम रूपी कर्म के आधार पर ही ईशकृपा की प्राप्ति होती है तो इसमें भाग्यबंध और कर्मबंध का परस्पर क्या संबंध है ?

संबंध बिल्कुल स्पष्ट है कि अगर किसान रात-दिन परिश्रम करके फसल तैयार नहीं करेगा तो उसको ईश्वर द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद फलीभूत कैसे होगा ? याने की वर्षारूपी अमृत अगर वो बरसाता तो हैं परन्तु उस अमृत का रसास्वादन या आत्मसात करने हेतु, किसान की अनाजरूपी फसल और मनुष्य की कर्मरूपी फसल ही तैयार ना हो तो वो अमृतरूपी वर्षा का पानी भी नदी-नालों में बहकर पुनः इस संसार रूपी महासागर में समाहित हो जायेगा, और फिर मानव मात्र उसके लाभ पाने के अधिकार से वंचित रह जायेगा

4

और मानव अपनी अल्पबुद्धि के ज्ञान से उसका दोष भाग्य और भाग्यविधाता पर मढ़ देता है। इसमें उस भाग्यविधाता का भला क्या और कैसा दोष ?

क्योंकि उसने तो अपनी आशीर्वाद रूपी वर्षा कर दी परन्तु वर्षा के आशीर्वाद के लाभ को सहेजकर रखने हेतु आपने अपना कर्मरूपी कुआँ या नहर ही अगर समय पर तैयार नहीं की है, तो भला वर्षा का लाभ आपको कैसे और क्यो मिलेगा ?

इसीलिये संत कहते हैं ! अरे भले इंसान पहले स्वयं तू कर्मरूपी आचरण को आत्मा की पवित्रता के साथ सांसारिक कर्मबंधन का निर्विकार रूप से पालन करते हुए इस भवसागर में अपने आप को उस परम्शक्ति को पूर्ण आस्थाभाव, एवं पूर्ण समर्पणभाव से समर्पित कर दे, फिर देखे अगर इस पर भी ईश्वर अपनी नेमतरूपी कश्ती तेरे लिये अगर ना भेजे तो फिर कहना !

परंतु फिर भी उसके कर्मरूपी आचरण में और संकल्परूपी दृढ़ निश्चय में अगर तनिक भी विचलन या खोट जरा भी अगर आ जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उसी प्रमाण में उस के लिये प्राप्त आशीर्वाद रूपी कश्ती में छेद भी हो जाता है। और व्यक्ति के दुष्कर्मरूपी थपेड़ों की चोट सह-सहकर ये छेद बड़ा भी होता जाता है। इसका उदाहरण आपको अक्सर देखने सुनने में मिलेगा की अमुक व्यक्ति पहले इतना धार्मिक था या अमुक व्यक्ति पर पहले ऐसी ईश्वर की अद्वितीय कृपा थी परन्तु बाद में उनका हश्र बहुत बुरा या बहुत अनिष्टकारी हुआ है।

ऐसा अकसर पूछा जाता है कि ऐसा क्यों हुआ ? परंतु ऐसा होने के कारण की .....

और सिर्फ परिणाम पर ही व्यक्ति प्रतिक्रिया देता है परन्तु उसमें अन्तर्निहित आयामों के परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण यदि किया जाये सूक्ष्मतापूर्वक तो, ये प्रश्न स्वयं बेमानी हो जायेगा की ऐसा क्यों हुआ, क्योंकि जब विस्तृत अवलोकन का पैमाना कसौटी पर कसा जाता है तो एक एक करके सारी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर गलतियाँ प्रतिबिम्बित होती जाती है क्योंकि इस पंचमकाल में धर्मानुकूल मर्यादाओं का अक्षरश: पालन करते हुए जीवनयापन करने का दुष्कर कार्य, बहुत कम दुर्लभ साधक या सज्जन ही कर पाने में सक्षम होते हैं।

और सच माने तो ये ही उन चंद विशिष्ट विभूतियों में सम्मिलित रहते हैं जिन पर खुदा की नेमत छप्पर फाड़कर बरसती है। इन्हें साधारण बोलचाल की भाषा में हम देवदूत भी

कह सकते हैं। परन्तु मात्र ईशकृपा होने से ही सारा जीवन आसानी से कट जाये ऐसा भी नहीं होता है। इनको भी प्रकृति या भाग्य द्वारा निर्मित, निर्धारित प्रक्रियाओं से रूबरू होना पड़ता है। उनका अनुमोदन करना होता है, उनमें भागीदारी का निर्वहन करना पड़ता है। क्रिया-प्रतिक्रिया भी संयमधर्म का पालन करते हुए अकिंचित परिप्रेक्ष्य में जाहिर तो करना ही पड़ती है। चाहे वो स्वयं उसमें प्रतिभागी हो चाहे न हो। बस एक बहुत महत्वपूर्ण फर्क ये होता है के ऐसे लोग निष्काम भाव से सांसारिक रंगों में ना डुबकर स्थिर मनोविकार से अपने प्रारब्ध को सहज सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं बगैर किसी तर्क-वितर्क के।

वही साधारण मनुष्य अपने कर्मपथ पर आने वाली थोड़ी सी प्रतिकूलता से भी विचलित हो जाता है और उसके परिहार हेतु ना-ना प्रकार के उचित-अनुचित कभी कभी अमर्यादित कर्म कर बैठता है। रागद्वेष मोह के वशीभूत होकर फिर ये सिलसिला निरन्तर विस्तारित होता जाता है और मनुष्य इन्हीं दुष्कर्मों के बन्धनजाल में अपने को उलझा हुआ पाता है। और फिर इन आगम विपरीत चर्याओं की वजह से वो सृष्टि के सूक्ष्म और असल यथार्थ से कोसों दूर चला जाता है। फिर दिन प्रतिदिन उसका जीवन के प्रति अहर्निश राग, उसके अन्तर्मन में भाग्य के प्रति, ईश्वर के प्रति, ईश्वर की बनाई दुनियाँ के प्रति और सबसे महत्वपूर्ण इस दुनियाँ में रहने वाले बन्दों के प्रति विरोध और विद्वेष की चिंगारी प्रज्ज्वलित कर देता है और फिर भाग्य के प्रतिकूल परिस्थितियाँ , उस चिंगारी को शोला बनाकर भड़कने में आग में घी के समान कार्य करती है। बस यहीं से उसके सबसे महत्वपूर्ण, बेशकीमती और अति दुर्लभ इस मानव जीवन के पतन की शुरूआत होना आरंभ हो जाती है। ये इसका अंत तभी हो पाता है जबकि मानव मात्र की नश्वर देह का अंत हो, या फिर कोई पिछले जन्म के लुप्त पुण्य के अचानक उद्भव होने का सुयोग निर्मित हो, जो उसको इस भवसागर से पार करा दे। परन्तु इसकी विवेचना भी इतनी आसान नहीं है वजह है कि ये भाग्यबंध और कर्मबंध का लेखा-जोखा, समझना शायद इस संसार में मेरे अल्पज्ञान और ईश्वरीय निर्देश के मुताबिक, आज तक किसी के बूते की बात नहीं है और तो और इस लेखा जोखा को समझना तो बहुत दूर की कौड़ी है। इसके परिणाम की विवेचना का असली पैमाना भी आज तक शायद कोई नहीं खोज पाया है। ये एक दुष्कर कार्य है।

नहीं तो आप स्वयं ही बताईये कि एक जीव को मारना तो पाप कहलाता है। परन्तु सीमा पर शत्रुरूपी मानव को मारना पुण्य कहलाता है ? क्या ये दोहरा पैमाना नहीं है ? ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे कि एक धर्म के अनुयायी का विधर्मी के

अनुयायी को चोंट या नुकसान पहुँचाना क्या धर्म की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसी तरह मानव निर्मित मानव हेतु प्रयुक्त दवाईयों के परीक्षण हेतु निरीह और मासूम पशुओं का उपयोग करना या फिर ईश्वर या शक्ति या धर्म या फिर परंपरा के नाम पर पशुबलि चढ़ाना क्या इन सबसे ईश्वर प्रसन्न होता है। कदापि नहीं, तो फिर इन सब परंपराओं को प्रमाणित किसने किया ? और क्यों किया और किसके लिये किया ? किसी के पास इसका प्रमाणित उत्तर नहीं है ?

इसकी वजह ये है कि मानव निर्मित कर्म के लेखा-जोखा की विवेचना तथाकथित धार्मिक विद्धानों ने अपने अल्प ज्ञान के अनुसार कर रखी है अपने आराध्य ईश्वर के नाम पर अपनी परम्पराओं के नाम पर बगैर ये सोचे समझे कि एक पिता के परिवार की एक संतान अगर दूसरे का खून अगर करती है तो पिता धर्म के नाम पर क्या आशीर्वाद दे सकता है। फिर इसी तरह पिता के संसार रूपी घर के अलग अलग परिधि में निवासरत् सदस्य भूमि के नाम पर ऐसा अगर करे तो क्या इससे उस बच्चे का पिता भला खुश हो सकता है एक बच्चा दूसरे के खून का प्यासा हो वो भी मात्र एक जमीन की परिधि के आकार की वजह से सूक्ष्म दृष्टि से मनन करने पर ये सब तों हास्यास्पद लगती है। परन्तु फिर भी मानव सच से मानों बहुत दूर ही रहना चाहता है।

उसको इसी सत्यार्थ की अनुभूति कराने हेतु परमशक्ति द्धारा भिन्न भिन्न अवतार लिये जाते हैं कभी मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीरामज़ी के रूप में तो कभी अनंत प्रेम स्वरूप लिये श्रीकृष्ण स्वरूप में तो कभी शक्ति जन्म लेती है। समस्त राग द्धेष और कमियों पर विजय पाने वाले श्री महावीर भगवान के रूप में तो, कभी शक्ति का अवतरण होता है क्षमा की प्रतिमूर्ति ईसा मसीह के स्वरूप में तो कभी उसी परम् शक्ति का आगमन होता है गौतम बुद्ध स्वरूप में, देशकाल और समय की परिस्थितियों के अनुरूप अवतरित होने वाले इन अवतारों के जन्म के निमित्त भी अनेक उद्देश्य निहित हैं जो इस प्रकार से हैं -

1. भगवान श्रीरामजी -
   परिवारिक संस्कार और आज्ञापलन के प्रतीक शक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित सांसारिक कष्टों के सहने की प्रतिमूर्ति।
2. भगवान श्रीकृष्णजी -
   प्रेम और स्नेह की प्रतिमूर्ति के प्रतीक, कर्मज्ञान के प्रणेता रूप में प्रतिष्ठित भागवत गीता।

3. भगवान श्री महावीरजी –
समस्त इंद्रियों पर विजय, अहिंसा मार्ग का उद्भव, जीव–दया, जीवकल्याण।

4. भगवान श्री गौतम बुद्ध –
बौद्धिक ज्ञान के प्रणेता, संसार से सन्यास तक का सफर।

5. श्री ईसा मसीह जी –
क्षमा की प्रतिमूर्ति के प्रतीक, परस्पर मानव प्रेम युक्त समाज बनाना।

वास्तव में देखा जाये तो इनके अवतार की जीवनलीला की सूक्ष्मतापूर्वक परीक्षण की कसौटी का आधार क्या है ? और क्यों इनको ये अवतरित स्वरूप में अपनी लीला रचानी पड़ी ? क्या वे सीधे ही अपना संदेश मानव मात्र को नहीं दे सकते थे और उनका उद्धार सीधे ही नहीं कर सकते थे क्या ? ये अवतार सब कुछ सीधे ही कर सकने में पूर्णत: सक्षम थे परन्तु इसके त्वरित क्रियान्वयन से उनके मानव स्वरूप में जन्म लेने का प्रयोजन ही बदल जाता और उनका उद्देश्य भी सफल नहीं हो पाता।

परमशक्ति के इन अवतारों की जन्म प्रकिया से लेकर जीवनशैली की चर्चा में परस्पर विरोधाभास निर्मित करके प्रत्येक स्वरूप का संदेश मनुष्य को उसके जीवन कल्याण हेतु दिया गया है। जैसे कि –

5. इसी तरह भगवान श्री ईसा–मसीह ने संपूर्ण मानव प्रजाति को क्षमा का अद्भुत मंत्र दिया। स्वयं सारे कष्ट सहकर भी अपने अपराधी के प्रति क्षमाभाव, क्या ये साधारण इंसान के बूते की बात है।

इसी तरह मोहम्मद साहब, गुरू नानकजी, साईं बाबा, गरीब नवाज, गजानन महाराज, अन्याय की जीवनलीला में प्रत्येक मानव हेतु कुछ न कुछ उपदेश अवश्य छुपा है।

परन्तु आज भी इतनी सदियाँ बीत जाने के बाद भी न जाने क्यों मनुष्य ये नहीं समझना चाहता है कि जब इन अवतारी पुरूषों को भी कष्ट उठाना पड़े, खराब से खराब समय का सामना करना पड़ा, दुख भी बहुत उठाना पडे परन्तु उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया परन्तु मनुष्य फिर क्यों खराब समय, दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति का सामना नहीं करना चाहता है जबकि ये सृष्टिचक्र की अनिवार्य प्रक्रिया है और इसका पालन करना ही समय की सबसे बड़ी स्वीकारोक्ति है। इस छोटी सी बात को भी मनुष्य जानकर भी अनजान बनना चाहता है। वो सृष्टिचक्र की, भाग्य

चक्र की मान्य परम्पराओं को तोड़ना चाहता है और जाने अनजाने इससे टकराने का प्रयास करके स्वयं की दुर्गति का मार्ग स्वयं प्रशस्त कर लेता है और फिर कष्ट उठाता है और तो और इसके लिये परमात्मा को ही जिम्मेदार ठहराता है। जबकि उसको चाहिए कि धैर्यपूर्वक, संयमपूर्वक, मर्यादित आचरण रूपी कवचों का लाभ लेकर वह स्वयं भी रक्षा कर सकता है।

परन्तु वह अपने कार्यसिद्धी हेतु ईश्वर से उसकी पूर्ण कृपा की अपेक्षा तो भरपूर करता है परन्तु उस कार्यसिद्धी हेतु अति आवश्यक साधारण प्रयास रूपी पहल करने से भी वो जी चुराना चाहता है। और तो और वो सुख के समय में अपने अच्छे दिनों में धर्म का छोटे से छोटा संकल्प भी पूरा करने के प्रति आशंकित रहता है।

अपने मोहवश किये गये या ओढ़े गये कार्य की महत्ता , या मूल्य उसको उसके ईश्वर के प्रति किये गये वादे या संकल्प या मन्नत से ज्यादा महत्वपूर्ण लगती है फिर वो अधूरे या अनमने मन से अपने संकल्प की पूर्ति की औपचारिकता निभाता है या उससे बचने की गली या बहाने ढूंढता है। धर्म या धर्म की मर्यादा उसको बेमानी लगने लगती है। फिर उसका मन धर्म, सदाचार, ईमानदारी नैतिकता इत्यादि के दायरे की परिधि में विचलन महसूस करने लगता है। उसके कदम सदाचार के पथ से बहकने लगते हैं । कृत्रिमता का मायारूपी आवरण उसको भाने लगता है और वो उस आवरण के पीछे छुपे हुए यथार्थ को नहीं समझ पाता है। और जब तक दुर्भाग्यरूपी माया का पर्दा दूर हटता है तब तक बहुत देर हो जाती है। फिर यथार्थ के थपेड़े उसकी जीवनशैली को चोट पहुंचाना आरंभ कर देते हैं। शुरूआत में तो उसके संचित कर्मों के पुण्योदय से वह मनुष्य कुछ हद तक परिस्थिति का सामना करने में सफल हो जाता है एक सीमा के बाद उसके संचित पुण्य कर्म समाप्त होने लगते हैं फिर उसकी रक्षा स्वयं उसको ही करनी होती है इसी में ज्यादातर इंसान असफल हो जाते हैं। इससे उनका आत्मविश्वास कमजोर होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप उसके कार्यों की सफलता का ग्राफ दिनों दिन गिरता जाता है और निराशा उसको चारों और से घेर लेती है। बस यहीं से इंसान के पतन की शुरूआत होती है। हताशा और आवेश में वो गलत और दिशाहीन निर्णय लेकर कार्य करने लग जाता है। जिसका अंत तो दुर्गति के रूप में नियत रहता है। असफलता और विघ्न बाँहे फैलाये उसका इंतजार करते रहते हैं । अंततः उसका पतन हो जाता है। बस ये ही भाग्यचक्र की अंतिम परिणीति है जिसकी बुनियाद अपने खराब कर्मबंधों से मनुष्य स्वयं रखता हैं और ये ही भाग्य और कर्म का परस्पर संबंध हैं। जो जाने सो निहाल!

9

इसलिये यदि मनुष्य अपनी जिंदगी इसी जीवनचक्र में सुखी और समृद्ध स्वरूप में आनंदित होकर जीना चाहता है तो भाग्य और कर्म के इस परस्पर अवलंबित संबंधों की सूक्ष्मता के अनुसार अपने कर्मबंधों याने कि दैनिक क्रिया कलापों को, स्वविवेक का उपयोग गंभीरता पूर्वक करते हुए एवं ज्ञानी महापुरूषों संतो एवं गुरू का मार्गदर्शन लेते हुये धीरे-धीरे धार्मिक एवं शास्त्रीय मान्यताओं के अनुकूल ढालने का प्रयत्न करते जाये पूर्णतः सहज एवं निर्विकार भाव से। फिर उसका स्वयं का जीवन भी सहज, सरल और सुखमय होना स्वमेव आरंभ हो जाएगा, फिर भाग्य के देवता स्वयं उसको मदद करते जायेगे इसलिये शायद कहा गया है कि -

खुदी को कर बुलंद इतना कि
खुदा खुद बंदे से पूछे, बता तेरी रजा क्या है ?

ॐ नमो सिद्धेभ्यः
इति सिद्धम